धर्म : एक चिन्तन

धर्मका स्वरूप

जैन संस्कृतिमें धर्मका स्वरूप निरूपित करते हुए कहा गया है कि धर्म वह है जो प्राणियोंको संसार-के दुःखोंसे निकालकर उत्तम सुखमें पहुँचाये—उसे प्राप्त कराये। आचार्य समन्तभद्रने अपने रत्नकरण्डक-श्रावकाचारमें 'धर्म' शब्दकी व्युत्पत्तिसे फलित होनेवाला धर्मका यही स्वरूप बतलाया है—

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥

प्रश्न है कि संसारके दुःखोंका कारण क्या है और उत्तम सुखकी प्राप्तिके साधन क्या हैं, क्योंकि जब तक दुःखोंके कारणोंको ज्ञातकर उनकी निवृत्ति नहीं की जायगी तथा उत्तम सुखकी प्राप्तिके साधनोंको अवगत कर उन्हें अपनाया नहीं जायेगा तब तक न उन दुःखोंकी निवृत्ति हो सकेगी और न उत्तम सुख ही प्राप्त हो सकेगा ? इस प्रश्नका उत्तर भी इसी ग्रन्थमें विशदताके साथ दिया है। उन्होंने कहा है—

सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः॥

'उत्तम सुखको प्राप्त करनेका साधन सद्दृष्टि—सम्यक् श्रद्धा (निष्ठा), सज्ज्ञान (सम्यक् बोध) और सद्वृत्त—सदाचरण (सम्यक् आचरण) इन तीनोंकी प्राप्ति है और दुःखोंके कारण इनसे विपरीत—मिथ्या-श्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरण है, जिनके कारण संसारकी परम्परा—संसार-परिभ्रमण होता है।'

तात्पर्य यह है कि धर्मका प्रयोजन अथवा लक्ष्य दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति है। और प्रत्येक प्राणी, चाहे वह किसी भी अवस्थामें हो, यही चाहता है कि हमें दुःख न हो, हम सदा सुखी रहें। वास्तवमें दुःख किसीको भी इष्ट नहीं है, सभीको सुख इष्ट है। तब इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्ति किसे इष्ट नहीं है और कौन उसके लिए प्रयत्न नहीं करता ? अनुभवकी साक्षीके साथ यही कहा जा सकता है कि सारा विश्व निश्चय ही ये दोनों बातें चाहता है और इसलिए धर्मके प्रयोजन दुःख-निवृत्ति एवं सुख-प्राप्तिमें किसीको भी मतभेद नहीं हो सकता। हाँ, उसके साधनोंमें मतभेद हो सकता है।

जैन धर्मका दृष्टिकोण

जैन धर्मका दृष्टिकोण इस विषयमें बहुत ही स्पष्ट और सुलझा हुआ है। उसका कहना है कि वस्तु-का स्वभाव धर्म है—'**वत्थुसहावो धम्मो।**' आत्मा भी एक वस्तु है और उसका स्वभाव रत्नत्रय है, अतः रत्नत्रय आत्माका धर्म है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन असाधारण आत्मगुण 'रत्नत्रय' कहे जाते हैं। जब आत्मा इन तीन गुणरूप अपने स्वभावमें स्थिर होता है तो उसे वस्तुतः सुख प्राप्त होता है और दुःखसे छुटकारा मिल जाता है। संसार दशामें आत्माका उक्त स्वभाव मिथ्यात्व, अज्ञान, क्रोध, मान, मात्सर्य, छल-कपट, दम्भ, असहिष्णुता आदि दुष्प्रवृत्तियों अथवा बुराइयोंसे युक्त रहता है और इसलिए स्वभाव स्वभावरूपमें नहीं, किन्तु विभावरूपमें रहता है। इस कारण उसे न सच्चा सुख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिलता है और न दुःखसे छूट पाता है। तात्पर्य यह कि आत्माका उक्त स्वभाव अथवा धर्म आत्मामें अपने रूपमें यदि उपलब्ध है तो आत्माको अवश्य सुख प्राप्त होता है और उसके दुःखोंका भी अन्त हो जाता है। अतः जैन धर्मका दृष्टिकोण प्रत्येक प्राणीको दुःखसे छुड़ाकर उत्तम सुख (मोक्ष) की ओर पहुँचाने का है। इसीसे जैन धर्ममें रत्नत्रय (सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) को धर्म कहा गया है और मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रको अधर्म बतलाया गया है, जो संसार-परिभ्रमणका कारण है। जैसाकि हम ऊपर आचार्य समन्तभद्रके उल्लिखित धर्मके स्वरूप द्वारा देख चुके हैं।

इससे यह सहजमें जान सकते हैं कि जीवनको पूर्ण सुखी, शान्त, निराकुल और दुःख रहित बनाने के लिए हमें धर्म अर्थात् स्वभावकी उपलब्धिकी कितनी भारी आवश्यकता है। इस स्वभावकी उपलब्धिके लिये हमें उसके तीनों रूपों—अङ्गों—श्रद्धा, ज्ञान और आचारको अपनाना परमावश्यक है। श्रद्धा-शून्य ज्ञान —विचार और आचार तथा विचारशून्य श्रद्धा एवं आचार और आचारहीन श्रद्धा एवं विचार संसार-परम्पराको काटकर पूर्ण सुखी नहीं बना सकते। अतः इन तीनोंकी ओर सुखाभिलाषियों एवं दुःख-निवृत्तिके इच्छुकोंको ध्यान रखना आवश्यक एवं अनिवार्य है।

आज सारा विश्व त्रस्त और भयभीत है। इस त्रास और भयसे मुक्त होनेके लिए वह छटपटा रहा है। पर उसके ज्ञान और प्रयत्न उचित दिशामें नहीं हो रहे। इसका कारण उसका मन अशुद्ध है। प्रायः सबके हृदय कलुषित हैं, दुर्भावनासे युक्त हैं, दूसरोंको पददलित करके अहंकारके उच्च शिखरपर आसीन रहनेकी भावना समाई हुई है और इस तरह न जाने कितनी दुर्भावनाओंसे वह भरा हुआ है। यह वाक्य अक्षरशः सत्य है कि **'भावना भवनाशिनी, भावना भवर्द्धिनी'** अर्थात् भावना ही संसारके दुःखोंका अन्त करती है और भावना ही संसारके दुःखोंको बढ़ाती है।

यदि विश्व जैन धर्मके उसूलोंपर चले तो वह आज ही सुखी और त्रासमुक्त हो सकता है। वह अहंकार-को छोड़ दे, रोषको त्याग दे, असहिष्णुताको अलग कर दे, दूसरोंको सताने और अतिसंग्रहकी वृत्तिको सर्वथा तिलाञ्जलि दे दे तथा सर्व संसारके सुखी होनेकी भावनाको—**'भावना दिन-रात मेरी सब सुखी संसार हो'**—अपने हृदयमें समा ले तथा वैसी प्रवृत्ति भी करे। अनेकान्तके विचार द्वारा विचार-वैमत्यको और अहिंसा, अपरिग्रह आदिके सुखद आचार द्वारा आचार-संघर्षको मिटाकर वह आगे बढ़े तो वह त्रस्त एवं दुखी न रहे।

अतः श्रद्धा समन्वित ज्ञान और आचार रूप धर्म ही व्यक्ति-व्यक्तिको सुखी कर सकता है और दुःखोंसे उसे मुक्त कर सकता है। इसलिए धर्मका पालन कितना आवश्यक है, यह उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन-से स्पष्ट है।

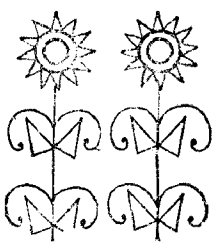

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org